(डॉ. दशरथ शर्मा स्मृति व्याख्यान)

राजस्थान के मन्दिर : कालक्रम एवं शैलीगत विवेचन

विजय वर्मा

उत्तर भारत के मन्दिर स्थापत्य के अध्ययन के लिए राजस्थान का विशेष महत्त्व है। भारत में मन्दिर ईसा की पाँचवीं शती से मिलने आरम्भ होते हैं। उसके पहले के काल के केवल अवशेष मिलते हैं। लगभग सातवीं शती तक का काल, मन्दिर निर्माण का प्रारम्भिक व प्रायोगिक काल कहा जा सकता है। इसके बाद के लगभग तीन सौ वर्षों का विकास व क्षेत्रीय शैलियों के प्रस्फुटन का काल कहा जा सकता है। लगभग दसवीं शती में मन्दिर निर्माण की तकनीक व कला अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं। ग्यारहवीं, बारहवीं व तेरहवीं शती में सारे भारत में बड़े-बड़े और अलंकृत मन्दिर बने। इसके बाद का काल कुल मिलाकर इस कला की अनवति का काल है, हालांकि भारत के कुछ भागों में मन्दिर निर्माण का कार्य जारी रहा और कुछ बहुत बड़े-बड़े मन्दिर भी बने।

इस परिप्रेक्ष्य में राजस्थान का विशेष महत्त्व निम्न दृष्टियों से है :

1 विकास के काल (लगभग 700 ई. से 1000 ई. तक) में, उत्तर भारत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्दिरों में से अनेक राजस्थान में बने। इन मन्दिरों ने, चरमोत्कर्ष के काल (लगभग 1000 ई. से 1300 ई. तक) की शैलियों के निर्माण मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

2 चरमोत्कर्ष-काल के कतिपय सबसे महत्त्वपूर्ण मन्दिर राजस्थान में मिलते हैं।

3 राजस्थान देश के उन थोड़े से भागों में से था जिनमें तेरहवीं शती के बाद भी मन्दिर निर्माण का क्रम जारी रहा।

मौर्य से गुप्तकाल के प्रारम्भ तक (लगभग 300 ई. पू. से 300 ई. तक)

जैसा कहा जा चुका है, इस काल के केवल अवशेष मिलते हैं। इनमें राजस्थान में मिले दो अवशेष विशेष महत्त्व के हैं। एक तो बैराठ (विराटनगर) में मिले, मौर्ययुगीन, ईंटों व लकड़ी के बने गोल बौद्ध मन्दिर व चैत्य के अवशेष हैं।

इसमें शायद बीच में एक स्तूप था व उसके चारों ओर प्रदक्षिणा का रास्ता था। दूसरे स्थान पर चित्तौड़ के पास नगरी में लगभग इसी काल के एक खुले (बिना छत वाले) वैष्णव मन्दिर के चिह्न मिले हैं। यहाँ शायद एक बड़े प्रकार (वर्तमान नाम हाथीवाड़ा) के अन्दर, ईंटों के चबूतरे पर एक टंकित पूजा शिला के पूजन का विधान था।

वास्तव में ऐसे खुले मन्दिरों या चबूतरों की परम्परा बहुत पुरानी है और पहले शायद उन्हीं का प्राधान्य था। प्रायः ऐसे चबूतरों या चौरों पर यक्षों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इसका एक उदाहरण हमें भरतपुर के पास नोह के जाखबाबा के रूप में मिलता है। इस विशाल यक्ष मूर्ति की तुलना मथुरा संग्रहालय के पारखमय यक्ष से की जा सकती है।

बैराठ के गोल चैत्य-गृह के अलावा राजस्थान में कोई पुराना बौद्ध स्तूप, चैत्य गृह या विहार नहीं मिला है। झालावाड़ जिले में कोलवी, हाथियागौर इत्यादि में, जो पहाड़ को काटकर बनाये गये चैत्य इत्यादि मिले हैं वे काफी बाद में यानी छठी-सातवीं शताब्दियों के हैं। लेकिन लालसोट मे बंजारे की छत्री नाम की, बाद में बनी छत्री में, लगभग पहली दूसरी शताब्दी के किसी बौद्ध स्तूप की वेदिका से मिले छः स्तम्भ प्रयुक्त किए हुए मिलते हैं। इन स्तम्भों पर, अलंकरण के लिए कमल, कमल सहित मानवमुख, ईहामृग (काल्पनिक, मिश्रजीव) और चैत्यगृह टंकित हुए हैं।

निवाई के पश्चिम में, आज के रैढ़ ग्राम के निकट मालव गणराज्य का एक प्रमुख केन्द्र अवस्थित था और खुदाई मे वहाँ से लगभग तीसरी शती ईसा पूर्व से लेकर दूसरी शती ईसा पश्चात् तक की पुरा-वस्तुएँ मिली हैं। इनमें पकाई हुई मिट्टी की मातृका या देवी मूतियाँ विशेष महत्त्व की हैं। इनमें से कुछ के चेहरे साँचे से व शेष भाग हाथ से डौलिया पर बनाये हुए हैं जबकि शेष पूरी साँचे से बनाई गई हैं। कुछ यक्षिणी मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनमें से शुंगकाल की एक साँचे में ढली प्रतिमा, जिसका केवल सिर व धड़ उपलब्ध है, विशेष अलंकृत व सुन्दर है। एक अन्य उल्लेखनीय मृद्भाण्ड शिव व पार्वती को दर्शाता है।

मालवों की राजधानी, नगर (पुराना नाम : कर्कोट नगर) जो उणियारा के पास है, की खुदाई से भी विशिष्ट कला-सामग्री मिली है जिसमें ईसवी सन् की

शुरुआत के आसपास की, खड़िया मिट्टी (काओलिन) की बनी, महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सरल और सीधे इस अंकन में महिषासुर के धड़ से मनुष्य का सिर निकलता नहीं दिखाया गया है, जैसा परवर्ती काल में दिखाया जाने लगा।

साँभर के पास एक सूखे तालाब (नालियासर) के निकट खुदाई में लगभग पहली शती ईसा पूर्व से गुप्तकाल तक की पकाई हुई मिट्टी की विविध वस्तुएँ (टेराकोटाज) प्राप्त हुई हैं, इनमें विविध प्रकार से अलंकृत सुराहियों के हैण्डल व टौंटियाँ विशेष रूप से दर्शनीय हैं। गले के लौंकेटों पर, दो मकरों के मुख में एक-एक पैर डाले बैठे मोटे शरीर के पुरुष के अंकन भी उल्लेखनीय हैं। इन टैराकोटाज में हाथ से डौलिया कर व साँचे से बनाई गई, दोनों तरह की वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

रैढ़, नगर व साँभर से प्राप्त ये कलावशेष जयपुर के हवामहल व आमेर के संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं।

भरतपुर म्यूजियम में भी शुंग व कुषाणकाल की कुछ महत्त्वपूर्ण कलाकृतियाँ हैं जिनमें एकमुखी शिवलिंग व सिर पर घड़ा उठाये यक्ष की मूर्ति प्रमुख हैं। कुषाणक कला का एक और महत्त्वपूर्ण नमूना पुष्कर के पास नांद में अवस्थित शिवलिंग है जिसमें चारों ओर, तरे ऊपर, चार-चार आकृतियाँ अंकित हैं। सबसे ऊपर लकुलीश प्रदर्शित हैं।

गुप्त व गुप्तोत्तर काल (लगभग 300 ई. से लगभग 700 ई. तक)

गुप्तकाल लगभग 300 ई. से लगभग 500 ई. तक माना जा सकता है। इस काल के अधिकांश अवशिष्ट मन्दिर उत्तरी मध्यप्रदेश में, विदिशा, साँची, देवगढ़, नचना-कुठारा, भूमरा, तिगवा, एरण इत्यादि स्थानों पर मिलते हैं। इसी परम्परा के कुछ मन्दिर, राजस्थान के दक्षिण-पूर्व के, मालवा से लगते हुए भू-भाग में भी मिलते हैं।

प्रारम्भिक गुप्त मन्दिर पहाड़ को काटकर बनाये गये मन्दिरों की भाँति सपाट छत वाले थे। दर्रा (कोटा-झालावाड़ मार्ग पर , लगभग 400-425 ई.), चारचौमा (कोटा के दक्षिण पूर्व में, लगभग 500 ई.) और माकनगंज (चित्तौड़ के पास बिचोर के उत्तर में, लगभग 625 ई.) के मन्दिर इसी सादे, गुहारूप

(केवलाइक) प्रकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। झालरापाटन का शीतलेश्वर महादेव का मन्दिर भी अपने मूल रूप में इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है।

दर्रा का मन्दिर एक बड़ी जगती पर एक मण्डप के रूप में है जिसमें एक परिक्रमा-पथ समाहित है। सामने शायद एक नंदी-मण्डप था। चारचौमा में एक छोटे आयताकार गर्भगृह के सामने एक संकरा अंतराल है जिसके सामने एक मण्डप है जिसके मध्य में अब एक चतुर्मुख शिवलिंग स्थपित है। शीतलेश्वर महादेव का मन्दिर राजस्थान का सबसे पुराना ऐसा मन्दिर है जिसकी तिथि (689 ई.) लगभग निश्चित रूप से ज्ञात है। इसके गर्भगृह की दीवारें भी मण्डप के स्तम्भों से निर्मित लगती हैं। तीन ओर गहरे खत्तक या लघु देवालय हैं। सामने एक अन्तराल और एक मुखमण्डप है। द्वारशोभा देखते ही बनती है। मण्डप लगभग एक शताब्दी बाद का है। कोटा के पास कन्सुआ में कुछ बाद के (739 ई.) मन्दिर में दीवारें सादी हैं। मण्डप के स्थान पर प्रारम्भ में शायद यहाँ भी केवल शीतलेश्वर जैसा मुखमण्डप था।

चित्तौड़ के पास नगरी में एक गुप्तकालीन मन्दिर के अवशेष मिले हैं जिनमें तोरणद्वार के खण्ड उल्लेखनीय हैं। इससे भी बेहतर कारीगरी और कृष्णलीला के अंकनों से युक्त वे विशालकाय तोरण द्वार पट्ट हैं जो मंडोर के ब्रह्मा मन्दिर में प्रवेश के मार्ग में लगे हुए मिले थे और अब जोधपुर के सरदार म्यूजियम में प्रदर्शित हैं।

गुप्तवंश के राजनीतिक पराभव के लगभग 200 वर्ष बाद तक की उत्तर भारतीय कला पर भी गुप्तकला की छाप मिलती है। ब्रज-मण्डल के राजस्थानान्र्गत कतिपय स्थानों, यथा-कामां, कटारा इत्यादि से प्राप्त लगभग सातवीं शती के कुछ कला के नमूने, जैसे शिव-पार्वती-विवाह और कृष्ण-बलराम-एकांशायुक्त खंडित वास्तुखण्ड, जो अब अजमेर म्यूजियम में सुरक्षित हैं, इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यही बात मण्डोर में रेल्वे स्टेशन के निकट शिला में टंकित मातृकाओं और योगेश्वर शिव (?) के अंकनों के बारे में कही जा सकती है।

गुप्तकाल अथवा उससे कुछ पहले के, साँभर, गंगानगर के बड़ोपल, रंगमहल इत्यादि स्थानों व नगरी से प्राप्त पकाई हुई मिट्टी (टैराकोटा) पर अंकित मूर्तिकला के नमूने भी उल्लेखनीय हैं। बीकानेर म्यूजियम में संग्रहित, बड़ोपल

इत्यादि से प्राप्त नमूने विशेषतौर पर महत्त्वपूर्ण हैं। उत्तर भारत में एक समय ईंटों के बने स्तूप, विहार मन्दिर इत्यादि बहुत बड़ी संख्या में रहे होंगे। कानुपर के पास भीतरगाँव के प्रसिद्ध मन्दिर को कारीगरीयुक्त पकाई हुई ईंटों अथवा फलकों से सजाया जाता था। बीकानेर म्यूजियम के ऐसे फलक भी शायद कभी उन ईंट के मन्दिरों की शोभा बढ़ाते रहे हों जो अब नष्ट हो चुके हैं। इन फलकों में शिव-पार्वती, एकमुखी शिवलिंग, अजैकपाद, चक्रपुरुष, दानलीला, गोवर्धनधारण इत्यादि के अंकन विशेष रूप से दर्शनीय हैं। इन फलकों की कला में गुप्तकालीन अन्तर्लीनता व नफासत की बजाय मुख्य तत्त्व एक प्रकार की लौकिक (फोकिश) व कबीलाई (ट्राइबल) सहजता व उत्फुल्लता हैं। कमोबेश ये वही तत्त्व हैं जो, उदाहरणार्थ, कुषाण और गुप्त के मिलन बिन्दु को दर्शाने वाले, मथुरा म्यूजियम के प्रसिद्ध कटारा से प्राप्त बोधिसत्व में हमें दिख पड़ते हैं।

उदयपुर व डूँगरपुर जिलों में तनेसर, केजड़, कल्याणपुर, आमझरा इत्यादि स्थानों से हरे नीले पारेवा पत्थर की लगभग पाँचवी-छठी शताब्दी की कुछ विशिष्ट प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतिमाओं की कला मूलतः गुप्तकला है लेकिन उनकी भंगिमा व भाव, गुप्तकला की अन्तर्लीनता की बजाय, हंसतामुखी, उत्फुल्लता और प्रगल्भता दिखाते हैं जो शायद मैत्रक या शक-क्षत्रप कला के प्रभाव के कारण हैं। प्रान्तीय ग्रीक अर्थात् हैलेनिस्टिक प्रभाव की संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। डूँगरपुर व उदयपुर के राजकीय संग्रहालयों में इन मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। ऐसी ही मूर्तियाँ गुजरात के शामलाजी, रोडा व अन्य स्थानों से भी मिली हैं।

गुर्जर-प्रतिहार काल (लगभग 700 ई. से 1000 ई.) व इस काल के गुर्जर-प्रतिहार शैली के व उससे कुछ भिन्न प्रकार के मन्दिर

प्रारम्भ के बहुरूपी और प्रयोगात्मक मन्दिर प्रकारों के युग के बाद लगभग 700 ई. तक सारे भारत में मन्दिरों में कुछ ऐसे टकसाली स्वरूप विकसित हो चुके थे जो बाद के लगभग सभी मन्दिरों के आधार बने। 8वीं, 9वीं एवं 10वीं शताब्दियों में इन प्रारूपों के आधार पर विभिन्न क्षेत्रीय शैलियाँ विकसित हुई और इस क्रम की परिणति लगभग 1000 ई. के आसपास के सारे भारत में बड़े-बड़े और परिपूर्ण मन्दिरों के निर्माण के रूप में हुई। लगभग 8वीं शती से राजस्थान में

जो क्षेत्रीय शैली विकसित हुई उसे गुर्जर-प्रतिहार अथवा महामारू कहा गया। इस शैली के अन्तर्गत आरम्भिक निर्माण मंडोर और मेड़ता के प्रतिहारों, साँभर के चौहानों तथा चित्तौड़ के मौर्यों आदि ने किया। इस क्रम को आगे बढ़ाया जालौर-कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों और उनकी अधीनस्थ स्थानीय शक्तियों, यथा-चौहानों, परमारों और गुहिलों ने।

लगभग 300 वर्षों के इस लम्बे काल में बड़े पैमाने पर मन्दिर निर्माण हुआ और उसके पूरे ब्यौरे में जाना यहाँ सम्भव नहीं है। अपने सिंहावलोकन के लिए हम कुछ प्रमुख तथ्यों और निर्माणों को निम्न रूपरेखा के अन्तर्गत लक्षित कर सकते हैं।

1. पश्चिमी, उत्तरी एवं दक्षिण-पूर्वी राजस्थान

(1) प्रारम्भिक दौर (लगभग 8वीं शताब्दी एवं 9वीं शताब्दी का प्रारम्भ)।

(2) मध्यक्रम (लगभग 9वीं शताब्दी)।

(3) दूसरा दौर (लगभग 10वीं शताब्दी व 11वीं शताब्दी का प्रारम्भ)

2 दक्षिणी राजस्थान एवं गुजरात (8वीं से 10वीं शताब्दियाँ)

यहाँ यह स्मरणीय है कि राजस्थान, गुजरात आदि से हमारा तात्पर्य आज की राजनीतिक सीमाओं से है। दूसरे, यह भी दृष्टव्य है कि ऊपर इंगित रूपरेखा की क्रम संख्या 1 का सम्बन्ध तो लगभग विशुद्ध गुर्जर-प्रतिहार शैली के निर्माणों में कुछ ऐसी मिश्रित शैलीगत विशिष्टताएं थीं जो उनको गुर्जर-प्रतिहार शैली की मूलधारा से थोड़ा अलग कर देती है।

1 (1) प्रारम्भिक दौर (लगभग 8वीं शताब्दी एवं 9वीं शताब्दी का प्रारम्भ)

इस दौर से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मंदिर ओसियाँ, चित्तौड़गढ़ एवं आबानेरी में अवस्थित हैं।

ओसियाँ में 8वीं से 12वीं शताब्दियों तक मन्दिर बने लेकिन इनमें सबसे सुन्दर व महत्त्वपूर्ण मन्दिर शायद इसी पहले दौर वाले हैं। इनमें भी सबसे महत्त्वपूर्ण है पहाड़ी पर सच्चिया माता के मन्दिर के पार्श्व में बना सूर्य मन्दिर और नीचे, मैदान में बने हरिहर 1 व 3, सूर्य मन्दिर 2 व महावीर मन्दिर।

ओसियाँ के इन मन्दिरों की कुछ शैलीगत विशेषताएँ निम्नलिखित हैं,

हालांकि जरूरी नहीं कि उनमें से हर एक हर मन्दिर में हो :

1 अलंकृत जगती पर अवस्थिति। अलंकरण में ताड़पत्र एवं एकेन्थस के अभिप्रायों वाली पट्टिकाएँ व देवमूर्तियों से युक्त रथिकाएँ (निशेज) सम्मिलित।

2 गर्भगृह, अंतराल व मुख चतुष्की। कुछ मन्दिरों में मण्डप भी जो कुछ मामलों में बाद में जोड़ा हुआ भी हो सकता है। ज्यादातर मन्दिर निरन्धार।

3 कुछ मन्दिरों में पंचायतन संयोजन-बीच में मुख्य मन्दिर, चारों कोनों पर चार छोटे मन्दिर।

4 पीठ (साँक्ल) का लगभग अभाव। वेदीबन्ध (पोडियम) के कलश के स्थान पर भद्र अथवा प्रतिभद्र पर तुलापीठ (रेफ्टर एण्ड्स) का प्रयोग।

5 त्रिरथ या पंचरथ तल-विन्यास।

6 आमतौर पर गर्भगृह पर एक सुघड़ लेकिन नाटा एकान्डक या लतिन शिखर। कुछ उदाहरण फांसना (पिरैमिडल) शिखरों के भी।

7 वरन्डिका या कटिभाग के अंतर्पट्ट में अक्सर कृष्णलीला का अंकन।

8 अधिकांश मन्दिर विष्णु या सूर्य की पूजा के निमित्त।

9 अलंकृत द्वार, स्तम्भ व छतें, स्तंभों में चौकोर खण्डों व घटपल्लव और कीर्तिमुख अभिप्रायों का प्राधान्य, द्वार में नागशाखा व ललाटबिम्ब में गरुड़ सम्मिलित। उत्तरंग में नवग्रह।

10 जंघा-भाग में सभी रथों पर मूर्तियों की अवस्थिति लेकन कुछ मन्दिरों में प्रतिरथ पर मूर्तियाँ नहीं। वरन्डिका के नीचे वन्दनमालिका।

11 प्रारम्भ में कुछ मन्दिरों के शिखरों में द्वितीय वेणुकोश (प्रतिरथ लता में भी कर्णामलकों का प्रयोग) व बालपंजर (सलिलान्तरों में तरे ऊपर पंजर जैसे अभिप्राय का अंकन) का प्रयोग भी मिलता है।

सूर्य मन्दिर 1 की तक्षणकला (स्कल्पचर) ओसियाँ में अद्वितीय है। हरिहर 1 में पंचायतन तल-विन्यास है। उसके द्वार एवं मुख चतुष्की (पोर्च) सूर्य -1 जितने सुन्दर नहीं है लेकिन कृष्णलीला के दृश्य एवं कोने के मन्दिरों की सज्जा देखते ही बनते हैं। हरिहर - 2 की मूर्तिकला में सायासता दिख पड़ती है लेकिन

चैत्यमुखों में जालक (चैत्य डौर्मर मैश) से बने उद्गमों (पैडिमेन्ट्स) की कटाव तराश दर्शनीय है। मण्डप बाद में जोड़ा हुआ लगता है। हरिहर - 3 का गर्भगृह आयताकार है वह उसकी छत फांसना (पिरैमिड्ल) प्रकार की थी। मण्डप शायद बाद में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है लेकिन अत्यन्त सुन्दर है। द्वार, खम्भे (ढलवाँ) छत की वलिकायें (शहतीरें) व वितान आकर्षक हैं। अनुमानतः मण्डप का शिखर या ऊपर की छत भी फांसना प्रकार की रही होगी। गर्भगृह की दीवारें अत्यन्त अलंकृत हैं हालांकि मूर्तियां कुछ कम प्राणवन्त और मुखर हैं। सूर्य मन्दिर 2 व उसके पीछे का कुण्ड अपनी दुर्दशा के बावजूद दर्शनीय है। महावीर मन्दिर मूलतः एक सान्धार गर्भगृह, गूढ़मण्डप, मुखालिन्द और मुखचतुष्की का समुच्चय था व पर्याप्त आकर्षक रहा होगा लेकिन फेरबदल और जोड़े गए हिस्सों की बदौलत उसका मूल रूप और सौन्दर्य नष्टप्रायः है। गर्भगृह पर अनेकाण्डक शिखर बहुत बाद का है। फिर भी वह महत्त्वपूर्ण मन्दिर है।

द्वितीय स्थान पर चर्चा करनी होगी चित्तौड़-दुर्ग के कालिका (मूलतः सूर्य-मन्दिर) एवं कुम्भश्याम मन्दिरों की जिनके बहुत से हिस्से बाद में पुनर्निर्मित हैं लेकिन 8वीं शती के कुछ मूल हिस्से भी सुरक्षित हैं। कालिका मन्दिर की भव्य अलंकृत जगती, मुख्य मन्दिर के नीचे का अलंकृत मंच, गर्भगृह की पीठ एवं वेदीबन्द, मण्डप के अलंकृत खम्भे एवं पुरानी चाल की समतल छतें दर्शनीय हैं। गर्भगृह के द्वार एवं सामने की दीवार का भव्य अलंकृत विधान गुहा मन्दिरों की याद दिलाता है। छतों का संयोजन भी दर्शनीय है-बीच की मुख्य छत व उसके खम्भे सबसे ऊँचे हैं जबकि दोनों पार्श्वों में क्रमशः नीचे होते हुए तल एवं खम्भे हैं। कुम्भश्याम के गर्भगृह की दीवारों की सज्जा कालिका से भी बढ़कर है और मण्डप में पुनर्प्रयुक्त खम्भे विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

इस पहले दौर का तीसरा बड़ा केन्द्र बाँदीकुई के पास आबानेरी है। दो विशाल अलंकृत जगतियों और एक अलंकृत मंच पर अवस्थित, कभी भव्य रहे हर्षतमाता मन्दिर के अब खंडहर ही बचे हैं। कालिका और कुम्भश्याम की तरह यह मन्दिर सान्धार तथा गूढ़ मण्डप युक्त था व उसका तलविन्यास एक खड़ी रेखा को काटती हुई दो आड़ी रेखाओं के समान था। मन्दिर की तक्षण कला में उच्च स्तरीय कटावतराश और नफासत है। उसकी मूर्ति कला में ओसियां के सूर्य मन्दिर

-1 वाली सहज शालीनता के स्थान पर एक राजसी व आमोद-प्रमोद प्रिय सायासता है। दूसरी जगती एवं मंच पर प्रदर्शित रथिकाएँ उल्लेखनीय हैं। मन्दिर का कुण्ड भी दर्शनीय है।

लाम्बा, भुण्डाना, बुचकला, पीपाड़ इत्यादि में भी ओसियां जैसी कलात्मकता मिलती है जबकि मैनाल के मुख्य मन्दिर के उत्तर-पश्चिम में अवस्थित दो पुरानी देवकुलिकाओं में झालरापाटन के शीतलेश्वर की भांति मालवा व मध्य भारत का प्रभाव है। कोटा के दक्षिण-पूर्व में आंवां की तीन छोटे मन्दिरों की युति नवीं शती के प्रारम्भ की महत्त्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित कृति है।

1 (i) मध्यक्रम (लगभग 9वीं शताब्दी)

इस क्रम के मन्दिरों में हमें विकसित गुर्जर-प्रतिहार कला के दर्शन होते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पाली जिले में आऊवा व बाड़मेर जिले में बालोतरा के पास खेड़ (दोनों लगभग 850 ई.) के क्रमशः कामेश्वर एवं रणछोड़ जी मन्दिर हैं। कामेश्वर मन्दिर में निरंधार आयताकार गर्भगृह के सामने खुला मण्डप है जिसके चौकोर (रुचक) खम्भे व छतें दर्शनीय हैं। मन्दिर की मुख्य विशेषता गर्भगृह के सामने खुला मण्डप है जिसके चौकोर (रुचक) खम्भे व छतें दर्शनीय हैं। मन्दिर की मुख्य विशेषता गर्भगृह के ऊपर आठ श्रृगों (लघु शिखर) एवं क्रमशः ऊपर उठते हुए शूरसेन (चंद्रशालाओं या चैत्यमुखों से बनी बड़ी-बड़ी तिकोनी संरचनाएँ) समुच्चयों से घिरा फांसना (पिरैमिडल) आकार की मूल मंजरी वाला शिखर है। इसके पीछे कच्छ व सौराष्ट्र का प्रभाव लगता है। रणछोड़जी मन्दिर की मूल मंजरी भी आठ श्रृंगों व शूरसेनों से घिरी हुई थी लेकिन आऊवा के विपरीत यहाँ मूल मंजरी, कच्छ के केराकोट के लाखेश्वर मन्दिर की भांति लतिन प्रकार की है। सान्धार गर्भगृह के आगे गूढ़ मण्डप के बीच के चार खम्भे बाद के हैं लेकिन मण्डप के आगे बाद में बनाये गए मुखालिन्द के खम्भे पुराने हैं।

मध्यक्रम के अन्य मन्दिरों में गोठ-मांगलोद के दधिमति माता (लगभग 850 ई.) जयपुर के पास भवानीपुर के नकटीमाता (लगभग 875ई.) व नीमाज के मगरमण्डी माता मन्दिर (लगभग 900 ई.) को गिनाया जा सकता है। राजस्थान की सीमा से लगते हुए धमनार (धर्मराजेश्वर) का पहाड़ में खोदकर बनाया गया मन्दिर समूह भी लगभग 850 ई. का है।

1 (ii) दूसरा दौर (लगभग 10वीं शताब्दी व 11वीं शताब्दी का प्रारम्भ)

इस दौर के मन्दिरों में हमें गुर्जर-प्रतिहार कला का पूर्ण विकास व सोलंकी शैली का पूर्वाभास देखने को मिलता है। इस क्रम का पहला महत्त्वपूर्ण मन्दिर मेड़ता के दक्षिण में कैकीन्द या जसनगर या नीलकण्ठेश्वर मन्दिर (लगभग 950 ई.) है। शिखर एकाण्डक है लेकिन गर्भगृह की दीवारों में खांचे निकालकर अधिकाधिक (13) मूर्तियों के लिए स्थान बनाया गया है। कारीगरी सुन्दर है। खम्भे अभी भी मूलतः चौकोर लेकिन गहरी कटान व विपुल अलंकरण से युक्त हैं। मण्डप की मुख्य छत या करोटक भव्य है। मूर्तिकला में सौष्ठव और शक्ति है। गर्भगृह की दीवार के प्रतिरथ व कर्ण के शीर्ष भागों को खम्भों के रूप में बरता गया है। सीकर के पास हर्षनाथ का मन्दिर इसी काल व कोटि का था लेकिन अब खण्डरमात्र है। सरिस्का के दक्षिण-पश्चिम में पारानगर का नीलकण्ठेश्वर मन्दिर भी कभी एक भव्य त्रिकूटाकार (एक मण्डप में खुलते हुए तीन गर्भगृह) मन्दिर रहा होगा। इन दोनों मन्दिरों में हमें उन अलंकृत और मिश्रित लेकिन मूलतः गोल स्तंभों के दर्शन होते हैं जो आने वाले युग में आम हो गए। एक और उल्लेखनीय मन्दिर ओसियां में पहाड़ी पर सूर्य मन्दिर के पास अवस्थित विष्णु मन्दिर है।

गुर्जर-प्रतिहार शैली का अन्तिम व सबसे भव्य मन्दिर किराडू का सोमेश्वर (लगभग 1016 ई.) है। अपनी खण्डित और उपेक्षित अवस्था के बावजूद वह भारत के सबसे अच्छे मन्दिरों में से एक है। शिखर 65 अंग-उपांगों वाला अनेकाण्डक शिखर है। मण्डप में शक्ति और सौन्दर्य, बारीकी और भव्यता का अनूठा मिश्रण सम्मिलित है और उसकी छतें कितनी भव्य रही होंगी इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। अपने काल के लिए मन्दिर की मूर्तिकला श्रेष्ठ है। विशेष बात यह है कि अलंकरण की प्रचुरता के बावजूद कहीं घिच-पिच नहीं है। किराडू में ही विष्णु मन्दिर, सोमेश्वर से कुछ पहले का एक विशाल मन्दिर रहा होगा लेकिन उसमें सोमेश्वर वाली बात नहीं है।

ओसियां के सूर्य मन्दिर 1 से लेकर किराडू के सोमेश्वर तक 300 वर्षों में बने जिन मन्दिरों की चर्चा हमने उपर्युक्त पंक्तियों में की उनमें एक प्रकार की क्रमबद्धता एवं एकसूत्रता मिलती है। लेकिन इसी काल में, पूर्व में बारोली से लेकर पश्चिम में बीठू तक, दक्षिणी राजस्थान में जो मन्दिर बने उनमें कई

विभिन्नताएं व शैलीगत विशेषताएँ मिलती हैं जो उनको हमारी रूपरेखा के क्रमांक 1 के मन्दिरों से किंचित अलग कर देती हैं।

2. दक्षिणी राजस्थान एवं उत्तरी गुजरात (8वीं से 10वीं शताब्दियाँ)

बारोली के घाटेश्वर (लगभग 900 ई.) में गर्भगृह की दीवारों पर केवल एक-एक मूर्ति है। शिखर एकाण्डक है। सामने एक मुखचतुष्की जैसा छोटा मण्डप है जिसके सामने के स्तम्भों पर अप्सराएँ उत्कीर्ण हैं। सामने एक भव्य मकर तोरण है। कुछ हटकर बनाया हुआ, मध्य प्रदेश के उदयेश्वर मन्दिर जैसा रंगमंडप लगभग 100 वर्ष बाद का है। अलंकरण नपा-तुला और नफासत भरा है।

अगला प्रमुख मन्दिर उदयपुर के दक्षिण-पूर्व में जगत का अम्बिका मन्दिर (लगभग 961 ई.) है। यहाँ शिखर 25 अंग-उपांगों से बना हुआ अनेकाण्डक है। गर्भगृह व गूढ़ मण्डप की दीवारों पर विपुल लेकिन सधी हुई सजावट है। मण्डप पर फांसना (पिरैमिडल) छत है। जगत में रास्ता खजुराहों को जाता लगता है जहाँ लगभग इसी समय प्रसिद्ध लक्ष्मण मन्दिर का निर्माण हो रहा था।

लेकिन उदयपुर के उत्तर में नागदा के सास-बहू मन्दिर (975 ई. के लगभग) एक बार फिर सादी गर्भगृह भित्तियाँ दर्शाते हैं जबकि उनके मण्डप खूब अलंकृत हैं। सास मन्दिर के गूढ़ मण्डप में मिश्रित प्रकार के स्तम्भ और तोरण भी मिलते हैं। मेवाड़ के इसी काल के अन्य महत्त्वपूर्ण मन्दिर तूस-मंदेसर का सूर्य-मन्दिर और आहाड़ का तथाकथित मीरां मन्दिर हैं। ये दोनों कुल मिलाकर जगत के मन्दिर के नजदीक पड़ते हैं। लेकिन इनके विपरीत एकलिंगजी का लकुलीश मन्दिर एकदम सादा है।

सिरोही जिले में वर्माण का ब्रह्माणस्वामी मन्दिर अपनी भग्नावस्था के बावजूद राजस्थान के सबसे महत्त्वपूर्ण व सुन्दर मन्दिरों में से है। यह सान्धार मन्दिर एक अलंकृत हैं लेकिन प्रमुखता चौकोर आकार की है। गर्भगृह की दीवारें सादी हैं लेकिन अन्यत्र ऊँचे दर्जे की, सधी हुई कारीगरी है। मन्दिर के वितान या छतें राजस्थान में अपने ढंग की सर्वश्रेष्ठ हैं। यह मन्दिर लगभग 875 ई. का है। इसके कई गुण, कुछ बाद के सिरोही जिले के कासिन्द्रा के अरुणेश्वर मन्दिर में भी मौजूद हैं जबकि वर्माण से पहले के, बीठू और कुसुमा के मन्दिरों के अवशेषों में,

कुछ मायनों में, वर्माण के लिए मानो पूर्वाभ्यास कर लिया गया लगता है।

लेकिन एक बार फिर इन सबसे हटकर है बिलाड़ा के पास हर्ष का मन्दिर (लगभग 875 ई.) जिसको देखकर कच्छ में कण्ठकोट में (इससे काफी छोटे) सूर्य मन्दिर का ध्यान आता है और जिसका शिखर अपने मूल रूप में शायद बहुत कुछ कच्छ के ही केराकोट के लाखेश्वर मन्दिर और खेड़ के रणछोड़ जी जैसा था।

अतः कहीं-कहीं साम्यताओं के बावजूद, दक्षिणी राजस्थान के इन मन्दिरों में क्रमबद्धता और एकसूत्रता का अभाव है। यही बात उत्तरी गुजरात के रोडा, शामलाजी, लकरोदा, थान इत्यादि के मन्दिरों के बारे में कही जा सकती है। यह सारा क्षेत्र मालवा, सौराष्ट्र, उत्तरी दक्खन और स्वयं शेष राजस्थान से प्रवाहित होने वाले कला संवेगों का मिलनस्थल रहा है और इसी के चलते यहाँ के मन्दिरों में विभिन्न शैलीगत तत्त्वों और परस्पर विभिन्नताओं के दर्शन होते हैं।

सोलंकी (मारू गुर्जर) शैली का उद्भव और उस शैली में बने मन्दिर

उत्तरी गुजरात और दक्षिणी राजस्थान के ऊपर वर्णित मन्दिरों को श्री मधुसूदन ढाकी ने महागुर्जर शैली के अन्तर्गत रखते हुए इस शैली की कुछ विशेषताएँ गिनाई हैं, जिनमें से कुछ ये हैं :

1. जगती का अभाव और पीठ या अधिष्ठान (सॉक्ल) का महत्त्व।
2 वेदीबन्द में एक अन्तर्पट्ट की अवस्थिति।
3 विशिष्ट प्रकार की द्वारशोभा जिसके उदाहरण रोडा के मन्दिर नं. 3 व वर्माण के ब्रह्माणस्वामी में मिलते हैं।
4 स्तम्भों (फ्रीस्टेन्डिंग पिलर्स) में घटपल्लव अभिप्राय का अभाव।
5 जंघा-भाग में प्रतिभद्र (बीच के उभार-भद्र-के दोनों ओर वाले रथ या भित्ति-खण्ड) को स्तम्भ के रूप में बरतना जैसा, उदाहरणार्थ, रोडा 3 व आहाड़ के मीरां मन्दिर में देखा जा सकता है।

उनके अनुसार यह शैली गुप्त परम्परा के बाहर की व गुर्जर-प्रतिहार (महामारू) और सौराष्ट्र - दोनों शैलियों से अलग थी। महागुर्जर में स्थापत्य को प्रधानता मिली और महामारू में तक्षणकला (फ्रीस्टेन्डिंग पिलर्स) में घटपल्लव अभिप्राय का अभाव।

5. जंघा-भाग में प्रतिभद्र (बीच के उभर-भद्र-के दोनों ओर वाले रथ या

भित्ति-खण्ड) को स्तम्भ के रूप में बरतना जैसा, उदाहरणार्थ, रोडा 1 व आहाड़ के मीरां मन्दिर में देखा जा सकता है।

उनके अनुसार यह शैली गुप्त परम्परा के बाहर की व गुर्जर-प्रतिहार (महामारू) और सौराष्ट्र-दोनों शैलियों से अलग थी। महागुर्जर में स्थापत्य को प्रधानता मिली और महामारू में तक्षणकला (स्कल्पचर) को और लगभग 1000 ई. के बाद इन दोनों शैलियों के सम्मिलन से एक तीसरी शैली मारूगुर्जर (सोलंकी) का जन्म हुआ जिसे एक ने स्थापत्य के गुण दिए और दूसरी ने अलंकरण।

इन स्थापनाओं के बारे में मतवैभिन्य सम्भव है। उदाहरण के लिए, एक-दूसरे नजरिये से देखें तो उत्तरी गुजरात इत्यादि की इस शैली को गुर्जर-प्रतिहार शैली की ऐसी उप शैली कहा जा सकता है जिसमें मालवा, सौराष्ट्र इत्यादि से अधिक व विभिन्न प्रभावों से चलते, एक ओर कुछ स्थानीय शैलीगत खासियतें आ गई और दूसरी ओर, इसी कारण, उस अपेक्षाकृत एकसूत्रता (होमोजिनिटी) का अभाव रहा जो उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में दिख पड़ती है। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि गुर्जर-प्रतिहार मन्दिरों में अलंकरण की प्रचुरता होते हुए भी स्थापत्य की मांग और सुन्दरता को शायद ही कहीं नजरअंदाज किया गया हो और यह भी कि हालांकि सोलंकी शैली के ज्यादातर तरीकों और उपादानों (कन्वैंशन्स एण्ड कांस्टिटुएंट्स) की अवस्थिति 8वीं शताब्दी के गुर्जर प्रतिहार मन्दिरों में ढूँढ़ी जा सकती है, सोलंकी मन्दिरों में अक्सर लक्षित स्थापत्य की कीमत पर अति से और ह्रासशील व रूटीन अलंकरण को तरजीह देने की प्रवृत्ति के स्रोत कहीं और भी ढूँढ़ने होंगे और ऐसा करते हुए अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य को भी ध्यान में रखना होगा, क्योंकि प्रायः अति की सीमाओं को छूता हुआ अलंकरण इस काल की अन्य शैलियों, यथा-कच्छपघात, चन्देल, परमार, कलिंग की विकसित व विशिष्ट शैली, परवर्ती चालुक्य, काकतीय एवं होयसल इत्यादि का भी एक लक्षण था।

अस्तु, 11वीं, 12वीं एवं 13वीं शताब्दियों में, गुजरात और राजस्थान दोनों में बहुत बड़ी संख्या में बड़े और अलंकृत मन्दिर बने जिनको मोटे तौर पर सोलंकी या मारू-गुर्जर शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनके विशिष्ट लक्षण

निम्न हैं :

1 ऊँचे और विकसित लेकिन कम असरदार पीठ और वेदीबन्ध। पीठ में गजधर, अश्वथर और नरथर का विशेष महत्त्व।

2 गर्भगृह के रथ खूब आगे तक बढ़े हुए और संख्या में भी ज्यादा व ऊपर खूब जटिल अनेकाण्डक शिखर।

3 जंघा में अलंकरण की रेलमपेल, मूर्तिकला में स्पष्ट गिरावट व सजावट अक्सर रूटीन।

4 वरन्डिका खूब विकसित व आगे बढ़े हुए नालीदार छाद्य या छज्जे (रिब्ड ऑनिंग) से युक्त।

5 खम्भे अपेक्षाकृत पतले, गोलाई प्रधान और खूब सजावटी। तोरणों का प्रयोग।

6 द्वार खूब सजावटी लेकिन अक्सर प्रभावशून्य।

7 मण्डप पर अधिकतर समवर्णा (बैल रूफ) छतें। मण्डप अक्सर दुमंजिलें या तिमंजले भी।

8 मण्डप के अन्दर भव्य, समतल, बाहर निकली हुई (क्षिप्त) या अन्दर दबी हुई (उत्क्षिप्त, कॉरबैल्ड) छतें, मुख्य छत या करोटक या विशिष्ट ठाठ जिसमें कर्णदर्दरिका, रूप धारा, कोल और गजतालु इत्यादि थरों के बाद मध्य में भव्य लटकन (पद्मशिला) और चारों ओर विद्या देवियों इत्यादि की मूर्तियों का प्रावधान काबिले गौर हैं।

इस शैली का पहला बड़ा मन्दिर गुजरात में मोढेरा का प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर है। बाद के मन्दिरों में गुजरात के ही सुणक, घुमली और सेजकपुर के मन्दिर हैं जबकि सिद्धपुर और वडनगर में कुछ अविश्वसनीय अवशेष मात्र देखे जा सकते हैं। राजस्थान में चित्तौड़ दुर्ग में समाधीश्वर मन्दिर इस शैली का प्रमुख मन्दिर है। अन्य उदाहरणों में ओसियां में सच्चिया माता का मन्दिर व उसके पास उत्तर की ओर बने दो छोटे विष्णु मन्दिरों, ओसियां में ही महावीर मन्दिर के तोरण-द्वार व देवकुलियकाओं और किराडू के तीन छोटे शिवमन्दिरों को गिना जा सकता है। बहुत से मन्दिर, जैसे आबूरोड के पास चंद्रावती के, नष्ट हो चुकेहैं और बहुत से अन्यों के खम्भे और छतें जालोर के तोपखाना देस और अजमेर के ढाई दिन के

झौंपड़े में प्रयुक्त देखी जा सकती हैं। सौभाग्यवश जो बचे रहे हैं, उनमें जैन मन्दिरों का विशिष्ट स्थान है।

राजस्थान के जैन मन्दिर

भारत में धर्मानुकूल स्थापत्य अथवा मूर्तिकला का प्रचलन नहीं रहा है : एक ही, भारतीय कला का प्रयोग विभिन्न धर्मों के प्रयोजनार्थ किया गया है। अतः किसी अलग जैन स्थापत्य अथवा मूर्तिकला के अस्तित्व की बात करना समीचीन नहीं है। दूसरी ओर यह भी सही है कि लगभग 10वीं-11वीं शताब्दियों में पश्चिमी भारत अर्थात् गुजरात व राजस्थान में, सोलंकी शैली के अन्तर्गत जैन मन्दिरों के एक विशिष्ट तल-विन्यास (ग्राउण्ड प्लैन) व संयोजन (कम्पोजिशन) व स्वरूप का विकास हुआ जो उस धर्म की पूजा एवं ध्यान सम्बन्धी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप थे।

अपने विकसित रूप में एवं सामान्यतः ये जैन मन्दिर एक जगती पर अवस्थित मिलते हैं। मन्दिर का गर्भगृह ज्यादातर निरन्धार अर्थात् बगैर ढके हुए परिक्रमा पथ वाला रहता हैं। गर्भगृह के सामने एक गूढ़ मण्डप रहता है जिसके दोनों पार्श्वों में भी मुखचतुष्की (पोर्च) युक्त द्वार रहते हैं। गूढ़ मण्डप के सामने एक खुला हुआ मण्डप, नोचौकी या त्रिक रहता है। त्रिक के सामने, कुछ निचले तल पर, एक खुला हुआ नृत्य अथवा रंगमण्डप रहता है। इस मूल मन्दिर के दोनों पार्श्वो में व सामने, अथवा चारों ओर, एक उठे हुए तल पर, जगती के किनारे-किनारे 24, 52 या अधिक देवकुलिकायें रहती हैं जिनके सामने एक वराण्डा रहता है। सामने, मन्दिर में प्रवेश के लिए जगती में एक नाली या जीना रहता है जिसके ऊपर एक नाली मण्डप या बलानक रहता है।

ऐसे जैन मन्दिर 10वीं से 13वीं शताब्दी तक बहुत बड़ी संख्या में बने। (पुराने निर्माणों को ठोक-पीटकर इस फर्मे में फिट करने का काम भी चला है)। श्री ढाकी के ही अनुसार 13वीं शताब्दी के अन्त तक पश्चिमी भारत में कम-से-कम 300 ऐसे मन्दिर थे। इनको बनाने वाले राजा भी थे, सामन्त, धनी व्यापारी और अन्य लोग भी। प्रायः ये मन्दिर एक समूह के रूप में होते थे।

राजस्थान में ओसियां, पाली जिले के सेवाड़ी, घाणेराव, पाली, नाडोल-नारलाई, सिरोही जिले के वर्माण, झालावाड़ जिले के झालरापाटन, तथा अन्य

अनेक स्थानों पर ऐसे प्रसिद्ध मन्दिर हैं। आबूरोड़ के पास चंद्रावती के मन्दिर नष्ट हो चुके हैं लेकिन गुजरात राज्य के समीपस्थ स्थान कुम्भरिया का मन्दिर-समूह सौभाग्यवश सुरक्षित है।

इन मन्दिरों में सर्वाधिक प्रसिद्धि देलवाड़ा, माउंट आबू के मन्दिर समूह को मिली है। यहाँ विमलशाह का बनवाया मन्दिर 1031 ई. का है, हालांकि उसके कई भाग बाद में जोड़े या पुनर्निर्मित हैं, जबकि तेजपाल का मन्दिर 1231 ई. का है। इन मन्दिरों की विशेषता संगमरमर में बड़े पैमाने पर की गई बारीक कारीगरी है। इसके सबसे अच्छे नमूने यहाँ की बड़ी व छोटी छतों या वितानों में देखने को मिलते हैं। विशेषतः तेजपाल के मन्दिर के त्रिक की छतें व रंगमण्डप का करोटक (प्रमुख, बड़ी छत) दर्शनीय हैं। एक और विशेषता स्तम्भों के बीच लगे हुए तोरण हैं। दूसरी ओर, यह भी सही है कि इन मन्दिरों में कारीगरी दिखाने की होड़ में स्थापत्य गौण हो गया है जबकि अलंकरण का आधिक्य थकाने लगता है और मूर्तिकला में ह्रास के चिह्न भी स्पष्ट है।

देलवाड़ा के इसी प्रांगण में पन्द्रहवीं शताब्दी का एक विशाल चौमुखा मन्दिर भी है। ऐसे चौमुखे मन्दिर भारत के मन्दिर स्थापत्य को जैन कला-उद्यम की विशिष्ट देन कहे जा सकते हैं। देलवाड़ा का चौमुखा मन्दिर रणकपुर के चौमुखे मन्दिर जैसा भव्य तो नहीं है लेकिन दर्शनीय है, हालांकि, दुर्भाग्यवश उस पर ध्यान कम जाता है।

ओसियां के महावीर मन्दिर का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दो और जैन मन्दिरों का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। घाणेराव का मुछाला महावीर मन्दिर (954 ई.) अपनी अवस्थिति व स्थापत्य और मूर्तिकला के सुन्दर सामंजस्य या समरसता (बैलेंस, हॉरमनी) के लिए दर्शनीय है। सिरोही जिले में मीरपुर का मन्दिर भी अपनी ऊँची चौकी, पर्वत की क्रोड़ में अवस्थिति व सुन्दर स्तम्भों के लिए उल्लेखनीय है। लेकिन इस अंचल का शायद सबसे सुन्दर मन्दिर कुम्भरिया का महावीर मन्दिर है और वह हर स्थापत्य कला के प्रेमी के लिए दर्शनीय है।

राजस्थान के भूमिज शैली के मन्दिर

मन्दिर स्थापत्य के चर्मोत्कर्ष काल में मध्यप्रदेश और उत्तरी महाराष्ट्र में

मन्दिर निर्माण की उत्तर भारतीय अथवा नागर शैली के अन्तर्गत एक विशिष्ट उप-शैली का विकास हुआ जिसे 'भूमिज शैली' का नाम दिया गया है। महाराष्ट्र में इन मन्दिरों को देवगिरी (वर्तमान में दौलताबाद) के अमात्य के नाम पर हेमाडपंथी कहा जाता है।

इस शैली की विशेषता मुख्यतः उसके शिखर में परिलक्षित है। इस शिखर के चारों ओर, प्रमुख (कार्डिनल) दिशाओं में तो लतिन या एकान्डक शिखर की भांति ऊपर से नीचे तक चैत्यमुख डिजाइन वाले जाल की लताएँ या पट्टियाँ रहती हैं लेकिन इनके बीच में चारों कोणों में, नीचे से ऊपर तक क्रमशः घटते आकार वाले छोटे-छोटे शिखरों की लड़ियाँ भरी रहती हैं। इस प्रकार यह शिखर मूलतः अनेकाण्डक या शेखरी शिखर का एक विशिष्ट प्रकार है। सभी भूमिज मन्दिर निरन्धार हैं।

राजस्थान में इस शैली का सबसे पुराना (लगभग 1010-20 ई.) मन्दिर पाली जिले में सेवाड़ी का जैन मन्दिर है। इसके बाद मैनाल का महानालेश्वर (लगभग 1075 ई.) आता है जो पंचरथ व पंचभूम है। यह मन्दिर पूर्णतः अखण्डित है व अपने श्रेष्ठ अनुपातों के लिए दर्शनीय है। अगले दो मन्दिर, बारां जिले में रामगढ़ का भण्ड देवरा व भीलवाड़ा जिले में बिजोलिया का उंडेश्वर, दोनों लगभग 1125 ई., गोल अथवा स्टैलेट प्लैन वाले हैं। (यदि एक चौकोर कार्ड को उसके केन्द्र पर गोल घुमाएँ तो उसकी विभिन्न स्थितियों में स्टैलेट प्लैन मिलेगा।) दोनों सप्तरथ हैं लेकिन अपनी पीठ की सजावट, मण्डप व स्तम्भों की भव्यता व मूर्तिशिल्प के लिए अब भी दर्शनीय हैं। भण्ड देवरा के पास ही एक देवी मन्दिर भी भूमिज शैली में है लेकिन उसके शिखर में शृंगों की लड़ियों के बीच लतायें व लताओं के बीच लड़ियाँ देकर विविधता पैदा की गई है।

झालरापाटन का सूर्य मन्दिर, जो शायद विष्णु मन्दिर था, सप्तरथ व सप्तभूमि है लेकिन उसकी लताओं में, अनेकाण्डक शिखरों की भांति उरहशृंग जोड़ दिए गए हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में रणकपुर (सूर्य मन्दिर) व चित्तौड़गढ़ (अद्भुतनाथ मन्दिर) में भी भूमिज मन्दिर बने। इनमें से रणकपुर का मन्दिर अपनी विशिष्ट प्लैन (अष्टशाल गर्भगृह व अष्टभद्र मण्डप) के लिए दर्शनीय है।

प्रायः भूमिज मन्दिर शास्त्र की जकड़न से ग्रस्त व बेडौल लगते हैं,

लेकिन ये मन्दिर स्थापत्य में वैविध्य की खोज उपलबिध का नमूना तो हैं ही व महानालेश्वर जैसे मन्दिर सुन्दर और सुघड़ भी हैं।

चौदहवीं शताब्दी एवं उसके बाद के मन्दिर

हम देख चुके हैं कि राजस्थान में 11वीं से 13वीं शताब्दी तक की प्रमुख शैली गुजरात के सोलंकियों के नाम से जानी जाती है। इसी काल में मालवा से लगते हुए प्रदेश में भूमिज शैली का प्राधान्य रहा। (बाँसवाड़ा जिले में अर्थुना के मन्दिर 11वीं-12वीं शताब्दियों के हैं व परमार कला का प्रतिनिधित्व करते हैं)। राजस्थान के जैन मन्दिरों में इस कला की कला का एक विशिष्ट संयोजन के तहत व्यापक उपयोग होते हुए भी हम देख चुके हैं।

राजस्थान सहित सम्पूर्ण भारत में 13वीं शती के बाद का काल मन्दिर निर्माण के लिए बहुत सुविधाजनक नहीं था। विजयनगर साम्राज्य के तहत व धुर दक्षिण में फिर भी मन्दिर निर्माण जारी रहा जबकि उत्तर भारत में हिमालय पर्वत की निचली शृंखलाओं के अलावा राजस्थान शायद ऐसा एकमात्र क्षेत्र था जहाँ बड़े मन्दिरों का निर्माण जारी रहा। इसका श्रेय तत्कालीन राजपूत शासकों को जाता है।

इस काल में बड़े मन्दिरों में उदयपुर के जगदीश जी, एकलिंग जी के मुख्य मन्दिर, केशोरायपाटन के मन्दिर और आमेर के जगत शिरोमणि को गिनाया जा सकता है। वृंदावन का गोविन्ददेव जी का मन्दिर भी वस्तुतः इसी परम्परा व उद्यम का एक प्रमुख अवदान है। ये मन्दिर विशालकाय हैं और लगभग दसवीं शती से उपलब्ध होने वाले वास्तुशास्त्र के ग्रंथों के अनुसरण में बनाये गए हैं। उदाहरण के लिए, आमेर का जगत शिरोमणि मेरुप्रासाद प्रकार का मन्दिर है जिसके लिए प्रासाद मण्डन में लिखा है कि उसे राजा द्वारा बनाया जाना चाहिए, अन्यों द्वारा नहीं और जिसमें 1001 तक लघु शिखर हो सकते हैं।

लेकिन कुल मिलाकर इन मन्दिरों में आकार की भव्यता तो है लेकिन महान स्थापत्य के आवश्यक गुणों का अपेक्षाकृत अभाव है। कारीगरी कामचलाऊ और भरती की है, मूर्तियाँ विजड़ित व प्राणहीन। शास्त्रोक्त फार्मूले और नाप-तोल तो हैं लेकिन उस सौन्दर्य दृष्टि और सहज अंतःस्फूर्त सानुपातिकता का अभाव है जो महान स्थापत्य के लिए लाजिमी है।

अन्तिम संस्कार अथवा अस्थियों को गाड़ने के स्थान के ऊपर स्तूप

और मन्दिर बनाने की परम्परा बहुत पुरानी है। राजस्थान में भी इस युग में महापुरुषों के श्मशानों में बड़े-बड़े मन्दिरनुमा भवन बने जिन्हें छतरियाँ कहा जाता है। उदाहरण के रूप में मण्डोर, आहाड़ व गैटोर व छतरियों को गिनाया जा सकता है। लेकिन इन छतरियों में भी भव्यता तो अवसर है लेकिन स्थापत्य की सुघड़ता और तक्षण की बारीकी लगभग नदारद है।

लेकिन इस कठिन और विरल गुणवत्ता के काल में भी पाली जिले के रणकपुर के प्रसिद्ध चौमुखे जैन मन्दिर के रूप में हमारे पुरखे एक अतीव महत्त्वपूर्ण स्मारक की रचना करके हमें अपना ऋणी बना गए। अपने प्रभाव में जटिल लगते हुए भी मन्दिर की संरचना वस्तुतः बहुत सरल है। बीच में चौमुखा गर्भगृह व उसके हर मुख के सामने एक-एक मण्डप है। इस सब को घेरे हुए 80 देवकुलिकाएँ और उनके सामने वाला वराण्डा तथा उनके बीच में चारों दिशाओं में अवस्थित एक-एक नाली या जीना व हर नाली के ऊपर एक दो मंजिला बलानक और इस सबके नीचे एक ऊँची जगती और चारों ओर एक सुरम्य पहाड़ी वन प्रान्तर। कारीगरी यहाँ भी बस कामचलाऊ है लेकिन खम्भे खूब ऊँचे हैं और करोटक पर्याप्त ऊँचाई पर हैं (जबकि देलवाड़ा के विमल शाह वाले मन्दिर में खम्भे पर्याप्त ऊँचे नहीं हैं)। जिधर देखो, दृष्टि और वृत्ति दोनों को खुला विस्तार मिलता है और इस विस्तार और खुलेपन और सुन्दर अनुपातों के चलते तक्षण कला के चलताऊपन पर ध्यान नहीं जाता। देवकुलिकाओं का आवेष्टन भी दूर होने की वजह से घेरकर जकड़ता हुआ नहीं लगता और जगती की भव्यता के ऊपर अनेकानेक तरे-ऊपर के शिखरों का समुच्च्वय भी देवकुलिकाओं की सपाट पिछली दीवारों के निचाटपन से ध्यान बंटा देता है। निश्चय ही राजस्थान में किराडू के सोमेश्वर के बाद रणकपुर इस परवर्ती काल का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है और किसी भी काल के भारत के सर्वश्रेष्ठ मन्दिरों में उसकी गिनती होनी चाहिए।

15वीं शताब्दी के अन्य जैन मन्दिरों में जैसलमेर दुर्ग के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में ही राणा कुम्भा ने चित्तौड़ दुर्ग में कई निर्माण कार्य कराये जिनमें से कीर्ति स्तम्भ विशेष महत्व का है।

इससे कुछ पहले, शायद 14वीं शताब्दी का एक और निर्माण है जिसकी चर्चा होनी चाहिए। यह है कच्छपघात-शैली में बना हुआ डूँगरपुर जिले में स्थित

सोमनाथ का मन्दिर। यहाँ पर कारीगरी कुछ विशेष नहीं है लेकिन अनुपात (प्रपोर्शन्स) श्रेष्ठ हैं व गर्भगृह के ऊपर का शिखर अपने प्रकार के सर्वश्रेष्ठ निर्माणों में से एक है।

बाद में कठिन समय में अक्सर देवताओं के विग्रह पहले से उपलब्ध या नये बनाये हवेलीनुमा भवनों में भी पधा राये गए। धार्मिक दृष्टि से इन मन्दिरों का महत्त्व असंदिग्ध है और अक्सर वे भव्य और शानदार भी हैं। लेकिन चूंकि यह व्याख्यान भारत में मन्दिर स्थापत्य की प्राचीन, शास्त्रीय (क्लासिकल) परम्परा से सम्बन्ध रखता है इसलिए इन हवेली मन्दिरों की चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे।

मन्दिर अब भी बन रहे हैं जो अक्सर काफी बड़े भी होते हैं, लेकिन कला की दृष्टि से उनमें विशेष कुछ भी नहीं होता। शास्त्रों के हिसाब से निर्माण करने वाले स्थापतियों में प्रेरणा का अभाव लगता है और उनकी कृतियाँ पुराने फार्मूलों का दोयम दर्जे वाला पिष्टपेषण मात्र लगती हैं। शायद समय की मांग है कि आज के वास्तुकार और स्थपति नई चाल के गैर पारम्परिक मन्दिर बनाएँ ताकि यह महान परम्परा नवजीवन पा सके।

- **व्याख्यानकर्ता का परिचय-**

विजय वर्मा भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी रहे है। इसके साथ ही लोक संस्कृति के गहन अध्येता एवं मीमांसक के रूप में भी अपनी अनूठी पहचान स्थापित की है।